उपसंहार २

अट्टशूला जनपदाः

अनुशासन से भ्रष्ट होना

हम स्मृति को सहेजते रहे

कोई बहुत पुरानी बात नहीं है। तब जब माँ रोटी बनाने बैठतीं तो हम घर के सब बच्चे अँगीठी के इर्द-गिर्द जुड़ जाया करते थे। माँ आटे का पहला पेड़ा निकालतीं, उसे किञ्चित् घी के साथ छुआतीं और हम में से किसी एक को थमा देतीं। जिस बच्चे को वह पेड़ा मिलता वह दौड़ा-दौड़ा जाता और गली में किसी गाय को ढूंढकर आटे का वह पहला पेड़ा उसके मुँह में डाल आता। इस प्रकार गाय का भाग निकालने के उपरान्त ही माँ अँगीठी पर तवा चढातीं। फिर वे आटे का एक छोटा-सा पेड़ा लेतीं और उसे घी में डुबो कर उससे गर्म तवे की अच्छी प्रकार लिपायी करतीं। घी और तवे की कालिस से भरा वह आटे का छोटा-सा पेड़ा वहीं तवे पर ही एकओर रख दिया जाता और अन्ततः वह चींटियों एवं कव्वों के काम आता। अगले पूरे पेड़े को माँ रोटी के आकार में बेलकर तवे पर डालतीं, परन्तु इस पहली रोटी को वे एक ही ओर से पकाती थीं। उस अधपकी रोटी को तवे से उतारकर वे उस पर थोड़ा-सा सरसों का तेल लगातीं और हममें से किसी अन्य बच्चे को पकड़ा देतीं, और हम भागकर वह रोटी गली में घूमते किसी कुत्ते को खिला आते। अगली दो रोटियाँ पकाकर माँ उन्हें उस दिन बनी दाल अथवा भाजी की एक कटोरी के साथ गुरुद्वारे के लिये अलग रख देतीं। दोपहर में कभी गुरुद्वारे के भाई की पत्नी, भञ्जानी आतीं और गुरुद्वारे के भाग की वह रोटियाँ ले जातीं। हमारे छोटे-से नगर में भी प्रायः चालीस घरों से उन्हें इस प्रकार गुरुद्वारे के भाग का अन्न प्राप्त होता होगा और उतने अन्न से उनके कुटुम्ब का और गुरुद्वारे में आने वाले कतिपय अतिथियों का निर्वाह हो ही जाता होगा।

वे बचपन के दिन थे और तब भूख कुछ अधिक ही तीखी हुआ करती थी। परन्तु हम कितना

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

भी भूख-भूख चिल्लायें, माँ के गाय, कव्वे, कुत्ते और गुरुद्वारे का भाग निकालने की प्रतीक्षा तो हमें करनी ही पड़ती थी। और पेट में चाहे कैसे चूहे कूद रहे हों, अन्यों का भाग निकलने की इस प्रकार प्रतीक्षा करना कुछ भला ही लगता था। हमारे छोटे-छोटे हाथों से आटे का पेड़ा लेती हुई गाय की जीभ प्रायः हमें छू जाती, और गाय की वह ऊष्ण एवं सिक्त छुहन गाय का आशीर्वाद पाने जैसा आभास छोड़ जाती। गली में घूमते किसी कुत्ते को विशेषतः उसके लिये पकायी गयी और तेल से संस्कृत की गयी रोटी खिलाकर मन गहन स्नेह की भावना से भर उठता। और जब गुरुद्वारे की भञ्जानी गुरुद्वारे के भाग का अन्न लेने आतीं तो ऐसा प्रतीत होता मानो पूरा घर और घर का सारा अन्न ही गुरुओं के प्रसाद से धन्य हो गया हो।

हमारा घर एक साधारण-सा घर था। सुबह और शाम के खाने में हमारे यहाँ रोटी और कोई एक दाल-भाजी ही बना करती थी। परन्तु हमारे उस सामान्य-से घर से भी कुछ-न-कुछ अन्न तो बँटता ही रहता था। दिन में प्रायः चार-पाँच भिखारी आकर पुकार लगाते थे, और द्वार पर आकर इस प्रकार पुकार लगाने वाले प्रत्येक भिखारी को एक मुट्ठी आटा तो सर्वदा दिया ही जाता था। भिखारियों को आटा देने का यह काम भी बहुधा हम बच्चों के ही भाग में आता था, और आटे के बर्तन में पूरा हाथ सानकर एक मुट्ठी आटा निकालने और उसे द्वार पर खड़े भिखारी की झोली में डालने का अपना ही एक विशिष्ट आनन्द हुआ करता था। गुरुद्वारे की भञ्जानी के ही समान बाहर गली को बुहारने वाली 'ताई' भी अपने भाग की रोटी लेने आती थी और उसे भी कभी-कभार रोटी के साथ थोड़ी-सी दाल-भाजी मिल जाया करती थी। हम बच्चों को ऐसे प्रतीत होता था मानो घर में सारा दिन अन्न का सहज प्रवाह चल रहा हो। वैसे माँ इस प्रवाह को बनाये रखने के प्रति विशेष सजग ही रहती थीं, अन्न के बर्तन का खाली होना या रोटियों के डिब्बे का रीता रह जाना उन्हें किसी अकल्पनीय अपशकुन-सा लगता था। और, वे सर्वदा यह सुनिश्चित किया करती थीं कि रात में जब सब का भोजन हो चुके तब भी डिब्बे में एक-आध रोटी तो शेष बची ही रहे।

जैसे-जैसे हम बड़े होते गये वैसे-वैसे अन्न का यह प्रवाह कुछ थमने-सा लगा। गुरुद्वारे की भञ्जानी को घर-घर जाकर अन्न एकत्र करने में कुछ सङ्कोच-सा होने लगा, गुरुद्वारे का भाग पैसों में पाना उन्हें अधिक उपयुक्त दिखायी देने लगा। गली को बुहारने वाले ताई को प्रति दिन एक रोटी देना भारी पड़ने लगा, उसके स्थान पर उसको मिलने वाले नगण्य-से वेतन में किञ्चित् वृद्धि कर दी गयी। परन्तु उस वृद्धि के पश्चात् भी हमारे घर से उसे मिलने वाला वेतन प्रतिदिन एक रोटी के मूल्य के तुल्य तो नहीं ही बैठा करता था। द्वार पर आने वाले भिखारियों की झोली में एक मुट्ठी आटा डालने के स्थान पर उन्हें पाँच-दस पैसे का सिक्का दिया जाने लगा। कुछ समय

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

पाकर वह तुच्छ सिक्का भी कठिन लगने लगा और भिखारियों का आना प्रायः रुक-सा ही गया। जब हम पहले स्कूल और आगे कालेज की ऊँची शिक्षा पाकर आधुनिक काल का आचार-व्यवहार सीखने लगे तब तो हमें गाय, कव्वे और कुत्ते के लिये रोटी निकाला जाना दुर्लभ अन्न को व्यर्थ फेंकने-सा ही लगने लगा, और अन्न के बर्तन को सर्वदा भरा रखने और अन्न का प्रवाह सदा बनाये रखने के माँ के आग्रह को हम पुरातनपन्थी भावुकता की संज्ञा देने लगे।

पिछले तीस-चालीस वर्षों में काल में ऐसा परिवर्तन आ गया है। अपने बचपन में हम माँ को गाय, कव्वे, कुत्ते और गुरुद्वारे का जो भाग निकालते हुए देखते थे वह अपेक्षाकृत अच्छे समय में भारतीय गृहस्थ जो वृहद् संविभाजन किया करते थे उसका अत्यन्त सङ्क्षिप्त रूप ही था। हमें खिलाने से पहले माँ का अन्यों के लिये वह दो-चार रोटी का भाग निकालना मनुप्रणीत पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान जैसा तो नहीं था, न ही माँ के उस किञ्चित् संविभाजन की अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में होने वाले वृहद्-विस्तृत संविभाग से कोई तुलना की जा सकती है। सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी उदार भरणवृत्ति से आप्लावित कर देने वाले वैसे किसी अनुष्ठान का निर्वाह कर पाने का सामर्थ्य तो भारत के लोग कदाचित् दीर्घ काल से खो चुके हैं। परन्तु प्रायः वर्तमान काल तक भारत के साधारण लोग स्वयं खाने से पहले अन्यों को खिलाने के सनातन भारतीय अनुशासन को किसी-न-किसी स्तर पर निभाते ही आये हैं। भारत के अपेक्षाकृत साधन-सम्पन्न सम्भ्रान्त समाज ने तो भारतीयता को प्रायः परिभाषित-सा करने वाले उस मूलभूत अनुशासन की स्मृति भी कदाचित् खो दी है, पर भारत के साधारण लोगों ने अब तक उस स्मृति को बनाये ही रखा है। अपनी स्मृति के उस अनुशासन का उस अनुशासन में निहित सहज भव्यता एवं उदारता के साथ निर्वाह करने की क्षमता चाहे वे काल के प्रवाह में कहीं खो बैठे हों, परन्तु उस अनुशासन की स्मृति को तो वे अपनी अमूल्य धरोहर-सा ही मानते आये हैं, उस स्मृति को सर्वदा श्रद्धापूर्वक सहेजते ही रहे हैं।

अन्नानुशासन को छिन्न करने के प्रयास

अन्नानुशासन का उपहास

भारत में ब्रितानी प्रभुता की स्थापना के प्रारम्भिक काल में यहाँ आने वाले ब्रितानी प्रशासकों एवं अन्य यूरोपीय पर्यवेक्षकों को घर-द्वार पर अथवा ग्राम में आने वाले प्रत्येक याचक का समुचित आतिथ्य करने की सहज भारतीय वृत्ति का अनुभव पुनः पुनः होता है। वे इस वृत्ति को देखने-समझने का प्रयास करते हैं, और अपने लेखन में वे प्रायः निन्दा एवं उपहास की भाषा में ही इसका वर्णन करते हैं।

अनुशासन से भ्रष्ट होना

उस प्रारम्भिक काल में भारत आने वाले यूरोपीय पर्यवेक्षकों में एब्बे दुबोय का नाम अनेक लोग जानते हैं। फ्रांस देश के ईसाई प्रचारक एब्बे दुबोय १७९२ ईसवी में भारत आये और भारतीयों की सुविख्यात आतिथ्यवृत्ति का लाभ उठाते हुए ३१ वर्षों तक मैसूर प्रदेश के गाँवों में रहते रहे। भारत के ग्रामवासियों के आचार-व्यवहार एवं ग्राम के आन्तरिक जीवन को भीतर से जानने के उद्देश्य से वे मैसूर के ग्रामवासियों के से कपड़े पहनकर उन्हीं में से एक होने का दिखावा करते रहे। यहाँ रहते हुए उन्होंने 'हिन्दुओं के आचार-व्यवहार एवं रीति-नीति' के विषय पर प्रायः इसी शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। भारतीय ग्रामवासियों के आन्तरिक जीवन के इस दम्भपूर्ण अवलोकन के लिये उन्हें आधुनिक भारतीय समाजशास्त्र का पितामह कहा जाता है और स्वतन्त्र भारत के आज के विद्वान् समाजशास्त्री भी एब्बे दुबोय को इस प्रकार सम्मानित करने में कोई सङ्कोच नहीं करते।

भारत के लोगों के आचार-व्यवहार का वर्णन करते हुए एब्बे दुबोय भोजन पर बैठने से पूर्व अन्यों का भाग निकालने के भारतीय अनुशासन का पर्याप्त विस्तार से विवेचन करते हैं। वे लिखते हैं कि कैसे सामान्य गृहस्थ भोजन करने से पहले विस्तृत अनुष्ठान का सम्पादन करता है, कैसे वह भोजन के समय स्वच्छता एवं निर्मलता बनाये रखने का प्रयास करता है, कैसे वह स्वयं भोजन ग्रहण करने से पहले देवों, पितरों एवं भूतों का भाग निकालता है, और कैसे प्रत्येक गृहस्थ की यह इच्छा रहती है कि भोजनकाल पर उसके घर में अधिक-से-अधिक अतिथि उपस्थित हों। एब्बे भृत्यों को सम्मानपूर्वक भोजन करवाने की भारतीय वृत्ति का विशेष उल्लेख करते हैं। वे लिखते हैं कि, ''बचा हुआ भोजन कभी सहेजकर नहीं रखा जाता, ...न ही ऐसा अन्न भृत्यों को परोसा जाता था। ...भृत्य होने से तो कोई छोटा नहीं होता। भृत्य सामान्यतः भर्ता के साथ ही खाता है, और उनके खाने के उपरान्त जो शेष बचता है वह तो दरिद्रों में भी नहीं बाँटा जा सकता, ...दरिद्रों को दिया जाने वाला भात ...अलग से पकाया जाता है।''[१]

एब्बे को भारत के लोगों का यह अनुष्ठान, यह आचार-व्यवहार एवं यह अनुशासन नितान्त अभद्र लगता है। अपने सारे लेखन में वे भारतवासियों के आचार-व्यवहार का उपहास-सा उड़ाते हुए ही दिखते हैं। ऊँची विद्वत्ता में रुचि रखने वाले एब्बे साधारण जनों के अपने से भिन्न लोगों के प्रति सहज पूर्वाग्रहों से कुछ विशेष अभिशप्त दिखते हैं। परन्तु कदाचित् उन्हें यह चिन्ता भी सता रही है कि दिन प्रति दिन के विभिन्न कर्मों में इस प्रकार के विस्तृत अनुशासन का निर्वाह करने वाले लोगों की अन्य धर्मों के प्रति कोई रुचि कैसे हो सकती है? ऐसे अनुशासन का पालन

---

[१] एब्बे जे.ए. दुबोय, *हिन्दु मैनर्स, कस्टमस एण्ड सेरेमनीस*, तीसरा संस्करण, आक्सफोर्ड १९०६, पृ.१८४।

Centre for Policy Studies *www.cpsindia.org*

करने वाले लोगों को तो अन्य धर्मावलम्बी लोग और विशेषतः उस समय के यूरोपीय किसी असभ्य बर्बर जाति के लोगों से ही दिखते होंगे। ऐब्बे जिस यूरोपीय सभ्यता एवं ईसाई धर्म को भारतीय सभ्यता एवं धर्म की तुलना में अत्यन्त परिष्कृत मानने का दम्भ करते थे, उस धर्म एवं सभ्यता का ऐसे अनुशासननिष्ठ लोगों पर भला क्या प्रभाव हो सकता था? भारतवासियों के और विशेषतः अपनी सनातन सांस्कृतिक परम्पराओं से जुड़े साधारण भारतीय गृहस्थ के जीवन के सब कार्यों में सहज अनुशासन को देखकर ही कदाचित् एब्बे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि विजेता यूरोपीय जाति के धर्म को स्वीकार करने के स्थान पर भारत के लोग असभ्य एवं धर्मविहीन रहना ही कहीं अधिक वरणीय मानेंगे। अपने साथी ईसाई धर्मप्रचारकों को निराश एवं खिन्न कर देने वाली भाषा में लिखते हुए एब्बे दुबोय आग्रहपूर्वक घोषणा करते हैं कि, ''दोनों (यूरोपीय और भारतीय) जातियों के लोगों में आपसी मेलजोल के कभी भविष्य में मैत्री एवं आत्मीयतापूर्ण होने पर यदि इस देश के धर्म एवं आचार में कोई परिवर्तन होने लगा तो भी वे ईसाई धर्म को अपनाने के लिये अपना धर्म कदापि नहीं छोड़ेंगे, अपितु वे नितान्त नास्तिक ही हो जायेंगे, (और वह स्थिति मेरे विचार में मूर्तिपूजक होने से सहस्रगुणा निकृष्ट होगी) ...।''[२]

समाजतन्त्र का विखण्डन

भारत आने वाले ब्रितानी प्रशासकों के मन में भी भारतीय सभ्यता की मूल वृत्तियों के प्रति ऐसा ही विद्वेष भरा हुआ था। परन्तु भारत में व्याप्त आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाओं के प्रति शङ्का का भाव रखने का उनके पास एक नितान्त व्यावहारिक कारण भी था। जैसे कि हम पूर्ववर्ती अध्याय में देख चुके हैं, संविभाग के उपरान्त ही उपभोग में प्रवृत्त होने के सनातन भारतीय सिद्धान्त का निर्वाह हमारे यहाँ लोकों की व्यक्तिगत पुण्यवृत्ति मात्र पर नहीं छोड़ दिया गया था, अपितु इस सिद्धान्त को समाज की विभिन्न सार्वजनिक व्यवस्थाओं में प्रतिष्ठापित कर पूरा समाजतन्त्र ही संविभाग के आधार पर गढ़ा गया था। अतः बहुदा ग्रामों की उपज का पर्याप्त बड़ा भाग आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाओं और अन्य सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिये रूढ परम्पराओं के अनुरूप नियोजित हो जाता था। उपज के बड़े भाग के इस प्रकार पहले से ही सार्वजनिक कार्यों के लिये समर्पित हो जाने के उपरान्त ब्रितानी प्रशासन के लिये पर्याप्त राजस्व जुटा पाने की सम्भावना ही नहीं बच रहती थी। अतः यह कदाचित् बहुत आश्चर्य की बात नहीं है कि ब्रितानी प्रशासकों को भारत के लोगों की आतिथ्य एवं संविभाजन की वृत्ति किसी घिनौने व्यसन-सी लगने लगी।

---

[२] उपरोक्त में सम्पादक की प्रस्तावना में उद्धृत।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

अनुशासन से भ्रष्ट होना

भारतीय समाज एवं राज्यतन्त्र में प्रतिष्ठित संविभाजन की वृत्ति प्रारम्भिक काल के ब्रितानी प्रशासकों के लिये ऐसी गहन चिन्ता का विषय बन गयी थी कि मैसूर राज्य की पराजय के पश्चात् सद्यविजित राज्य के प्रशासन सम्बन्धी निर्देश देते हुए उस समय के ब्रितानी गवर्नर-जनरल रिचर्ड वेलसली को सहज भारतीय तन्त्र की इस संविभाजन वृत्ति का विशेष उल्लेख करना आवश्यक लगा। मैसूर राज्य में आरोपित ब्रितानी 'रेसीडेंट' को अपने सैनिक-सचिव के माध्यम से १७९९ में विस्तृत निर्देश भेजते हुए रिचर्ड वेलसली लिखते हैं[३]–

''हिन्दू राजा सामन्यतः अपने निजी उपभोग के विषय में पर्याप्त मितव्ययता का परिचय देते हैं, और वैसी ही मितव्ययता का भाव उनके प्रशासन के सभी विभागों में प्रायः रहता है। परन्तु एक विशेष विषय में अत्यन्त उदारतापूर्वक व्यय करने की उनमें अदमनीय वृत्ति बनी रहती है, इस विषय में वे इतने उदार हो जाते हैं कि प्रायः उनका समस्त आर्थिक प्रबन्ध लड़खडाने लगता है। यह विषय है विभिन्न व्यक्तियों (सामान्यतः ब्राह्मणों) और मन्दिरों के पक्ष में भूमि के राजस्व का अभ्यर्पण किये जाने का। महामहिम गवर्नर-जनरल को ज्ञात है कि इस प्रकार के समस्त महत्त्वपूर्ण अभ्यर्पणों के लिये पूर्णय्या ने पूर्ववर्ती मैसूर कमिश्नरों के समक्ष निवेदन कर उनकी अनुमति प्राप्त कर ली है। महामहिम को यह भी ज्ञात है कि अब के अभ्यर्पण हैदर अली खान के राज्य पर अनाधिकार आरोपित होने से पूर्व प्रचलित अभ्यर्पणों की तुलना में अत्यल्प बताये जाते हैं। परन्तु महामहिम का यह मानना है कि ये अभ्यर्पण राज्य के साधनों की तुलना में उदार ही हैं। अतः आपको इन व्यवस्थाओं में कोई वृद्धि करने अथवा सरकार को राजस्व देने वाली भूमि का किसी प्रकार का कोई अभ्यर्पण करने की अनुमति देने के विषय में अत्यन्त सावधानी बरतनी होगी। उपयुक्त तो यही होगा कि आप इस विषय मे पूर्णय्या के साथ किसी पूर्णतया स्पष्ट समझौते पर पहुँच पायें। आपको पूर्णय्या से यह सीधे-स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिये कि आपकी अनुमति के बिना वे ऐसा कोई अभ्यर्पण कदापि नहीं करेंगे। इस सम्बन्ध में महामहिम गवर्नर-जनरल के निषेधात्मक निर्देशों की खुली अथवा लुक-छिप कर की गयी किसी प्रकार की कोई अवहेलना महामहिम को दुष्प्रबन्ध के किसी भी अन्य विषय की अपेक्षा अधिक उद्विग्न कर सकती है और उन्हें श्रीरङ्गपट्टनम् की सन्धि के चौथे अनुच्छेद को लागू करने के लिये बाध्य कर सकती है।''

---

[३] गवर्नर-जनरल के सैनिक सचिव डब्ल्यू. किरकपैट्रिक का मैसूर में ब्रिटिश रेसीडेंट कर्नल बैरी क्लोज के नाम पत्र, दिनाङ्क ४.९.१७९९, *वेलसली पेपर्स*, ब्रिटिश म्यूजियम, एड एमएस १३६६९। यहाँ उद्धृत अंश श्रीधर्मपाल से सौजन्यपूर्वक प्राप्त प्रतिलिपि से लिये गये हैं।

अन्नानुशासन को छिन्न करना

ऊपर श्रीरङ्गपट्टनम् की सन्धि के जिस चौथे अनुच्छेद का उल्लेख हुआ है उसके अनुसार ब्रितानी प्रशासन के गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वे कभी भी मैसूर राज्य के किसी भी विभाग के आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी अध्यादेश एवं निर्देश लागू कर सकते हैं अथवा उस विभाग को 'सीधे कम्पनी बहादुर के कर्मचारियों के प्रबन्ध के अधीन' ला सकते हैं।

स्वयं गवर्नर-जनरल के आदेश से दी गयीं इस प्रकार की स्पष्ट धमकियों के समक्ष झुकते हुए दीवान पूर्णय्या ने नये प्रशासन के पहले ही वर्ष में मैसूर राज्य में आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाओं और सार्वजनिक श्रेयस् के अन्य कार्यों के लिये अभ्यर्पित साधनों को २,३३,९५४ पगोडा प्रति वर्ष से घटाकर मात्र ५६,९९३ पगोडा प्रति वर्ष तक ला दिया।[४] २,३३,९५४ पगोडा की जो राशि हैदर अली खान के राज्यकाल में मन्दिरों, मठों एवं दान-पुण्य की अन्य संस्थाओं और विभिन्न मुस्लिम प्रतिष्ठानों के लिये अभ्यर्पित थी, वह भी हैदर अली खान से पहले के पारम्परिक एवं सहज भारतीय प्रशासन में इन संस्थाओं एवं कार्यों के लिये अभ्यर्पित राशि की तुलना में कहीं अल्प थी। यह तथ्य ब्रितानी गवर्नर-जनरल के उपरोक्त निर्देश में भी स्वीकार किया गया है। अंग्रेजों के अधीन पूर्णय्या की दीवानी के पहले ही वर्ष में ये अभ्यर्पण हैदर अली खान के समय प्रचलित अभ्यर्पणों का भी मात्र एक-चौथाई रह गये। परन्तु दीवान पूर्णय्या कदाचित् भले-बुरे के अपने विवेक के अनुरूप चलने के लिये स्वतन्त्र नहीं थे, मैसूर राज्य को जीतने के पश्चात् अङ्ग्रेजों ने ही उन्हें उस सद्यविजित राज्य के मुख्य कार्यवाहक के रूप में पुनः प्रतिष्ठापित किया था और उनका कार्य मैसूर के राजा के नाम पर परन्तु अङ्ग्रेज प्रशासकों के आदेशानुसार राज प्रबन्ध चलाना ही था।

बुद्धि को विभ्रमित करना

भारत के सहज आचार-व्यवहार के प्रति ऐसे गहन विद्वेष और संविभाग के सिद्धान्त को व्यवहार में साकार करने वाली विभिन्न संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं के लिये उपलब्ध साधनों को क्षीण करने के ऐसे प्रबल प्रयासों का प्रभाव तो होना ही था। अतः किसी क्षेत्र में ब्रितानी प्रशासन के स्थापित होने के दस-बीस वर्षों के भीतर उस क्षेत्र में व्याप्त आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाएँ और वस्तुतः सहज भारतीय समाज एवं राज्यतन्त्र की सभी व्यवस्थाएँ खण्डित होने लगतीं। इस प्रकार अङ्ग्रेजों के यहाँ आने के पश्चात् शीघ्र ही सारे भारत का समाज एवं राज्यतन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया और संविभाग से सम्बन्धित सुदूर भूतकाल से चली आ रही भारतीय व्यवस्थाएँ

[४] देखिये, मेजर एम विल्कस कृत *रिपोर्ट आन द इंटीरियर एडमिनिस्ट्रेशनरिसोर्सस एण्ड एक्सपेण्डीचर आफ द गवर्नमेंट आफ मैसूर*, फोर्ट विलियम, कलकत्ता १८०५, पुनर्मुद्रण, बङ्गलूर १८६४, पैरा १८५, पृ.३४।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

प्रायः पूर्णतः नष्ट हो गयीं। उपभोग से पूर्व संविभाग करने के सिद्धान्त के प्रति साधारण लोगों की व्यक्तिगत आस्था तो निश्चय ही इस सब के उपरान्त भी बनी ही रही, परन्तु उस आस्था की सार्वजनिक अभिव्यक्तियाँ नितान्त क्षीण होने लगीं। इतना ही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि जो साधनसम्पन्न भारतीय यूरोपीय लोगों के निकट सम्पर्क में आने लगे वे भी शीघ्र ही भारतीय आचार-व्यवहार के प्रति यूरोपीय विद्वेष को आत्मसात् करने लगे। यूरोपीय लोगों से मेल-जोल रखने वाले भारत के सम्भ्रान्त जनों में यह मतिविभ्रम ऐसी शीघ्रता से व्याप रहा था कि १८२९ ईसवी में ही भारत में ब्रितानी प्रशासन के तब के गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिंक भारत के सम्भ्रान्त जनों की मनोस्थिति के विषय में अत्यन्त सन्तोष के साथ निम्न विचार प्रकट कर सके। विलियम बेंटिंक इस विषय में लिखते हैं कि[५]–

''निकट भूतकाल की घटनाओं और अभी वर्तमान में हमारी आँखों के समक्ष जो घट रहा है, उसे देखकर यह मानना उचित प्रतीत होता है कि हमारी देशज प्रजा के लिये जो परिवर्तन लाभकारी सिद्ध होंगे वे कुछ आंशिक स्तर पर तो शीघ्र ही अपना लिये जायेंगे। उनका इन परिवर्तनों को अपनाना केवल इस पर निर्भर करता है कि उनके समक्ष ऐसा करने के लिये पर्याप्त प्रयोजन प्रस्तुत हो। यहाँ के प्रायः सब साधनसम्पन्न लोगों में सुख-सुविधा एवं विलासिता के नितान्त यूरोपीय साधनों को पाने की जो तीव्र रुचि पनप रही है उसका उल्लेख करना तो कदाचित् आवश्यक नहीं है। बहुदा यह वृत्ति असाधारण तीव्र दिखायी देती है। सुना जाता है कि कलकत्ता में उनके अत्यन्त पुण्य उत्सवों के सम्पादन में भी बड़ा परिवर्तन दिखने लगा है। पुराने समय में जो साधन ब्राह्मणों एवं भिखारियों में वितरित कर दिये जाते थे उनका बड़ा अंश अब यूरोपीय लोगों का अत्यन्त आडम्बरपूर्वक स्वागत-सत्कार करने और उन्हें खिलाने-पिलाने में लगा दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि व्यर्थ के भिक्षाकार्यों में व्यय की जाने वाली राशि में सामान्यतः बड़ी कटौती हुई है ...।''

सम्भवतः विलियम बेंटिंक भारत के सम्भ्रान्त समाज में हो रहे परिवर्तनों को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कह रहे थे। यह तो सत्य ही है कि तब तक भारतीय समाज एवं राज्यतन्त्र की संस्थागत संविभाजन वृत्ति को प्रायः निरुद्ध कर दिया गया। यह भी सच है कि तब तक कलकत्ता और कदाचित् दिल्ली एवं आगरा जैसे नगरों के कतिपय समृद्ध भारतीय यूरोपीय सुख-साधनों एवं आचार-व्यवहार की ओर आकृष्ट होने लगे थे। ये नगर तब तक प्रायः पचास वर्षों तक यूरोपीय

[५] विलियम बेंटिंक का मिनट, दिनाङ्क ३०.५.१८२९। यहाँ उद्धृत अंश श्रीधर्मपाल से सौजन्यपूर्वक प्राप्त प्रतिलिपि से लिये गये हैं।

सम्पर्क में रह चुके थे। फिर भी जिन्हें विलियम बेंटिंक 'व्यर्थ के भिक्षाकार्यों' की संज्ञा देते हैं उनके समुचित सम्पादन से बचने की वृत्ति तब तक भारतीय लोगों में बहुत अधिक तो नहीं व्याप पायी होगी। यूरोपीय लोगों के साथ सामाजिक सम्पर्क रखने और उनके सुख-साधनों के लिये लालायित होने योग्य पर्याप्त साधन एवं साहस उस समय भला कितने भारतीय जुटा पाये होंगे। विलियम बेंटिंक के मई १८२९ ईसवी के जिस प्रलेख के कुछ अंश हमने ऊपर उद्धृत किये हैं, वह वस्तुतः लिखा ही इस आशय से गया था कि भारत में अधिक संख्या में 'मेधावी एवं सम्माननीय यूरोपीय जनों' को बसाये जाने का पक्ष स्पष्टता से रखा जाये, जिससे 'देशज प्रजा' के यूरोपीय लोगों के सम्पर्क में आने की सम्भावनायें कुछ बढ़ पायें।

परन्तु जो भारतीय यूरोपीय लोगों के सम्पर्क एवं प्रभाव में आये वे तो निश्चय ही आतिथ्य एवं दान-पुण्य की सनातन भारतीय परम्पराओं की गणना भारतीय समाज की उन रूढ बुराइयों में करने लगे जिनका समूल उन्मूलन करना समाज के सद्यप्रबुद्ध नेता होने के कारण उन्हें अपना कर्तव्य लगता था। भिक्षा देने एवं दान-पुण्य करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रचार करना इन 'प्रबुद्ध' समाज सुधारकों के सुधार कार्यक्रम का अङ्ग बन गया। केशबचन्द्र सेन के सुधार आन्दोलन के मुखपत्र *सुलभ समाचार* के १५ नवम्बर १८७० ईसवी के प्रथम अङ्क में ही भिक्षा देने की 'दुर्वृत्ति' के विरोध में एक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में कहा गया कि, ''भिखारियों को भिक्षा देना सदयता का कर्म नहीं है, क्योंकि किसी अन्य के दान पर जीना अपने आप में दोषपूर्ण है।''[६] आगे इस लेख में कहा गया कि काम करने में अक्षम भिखारियों को भिक्षा देने के स्थान पर उन्हें 'समाज के लिये उपयोगी कार्य' करने का कोई प्रशिक्षण देना अच्छा है। जिनके पास पेट भरने को अन्न नहीं है उनसे अन्न के मूल्य के रूप में काम की माँग करने का यह नया विचार समय पाकर भारत के अपेक्षाकृत साधनसम्पन्न लोगों में रूढ-सा हो गया। अपनी परम्पराओं में सने किसी साधारण भारतीय को ऐसा सोचना भी पापकर्म सा लगता रहा होगा, परन्तु नयी आधुनिक एवं तर्कसम्मत चेतना के धारक होने पर गर्व करने वाले सम्भ्रान्त भारतीय, क्षुधित याचकों को अन्न देने से पहले उनसे काम लेने के नये सिद्धान्त के मुखर समर्थक बन बैठे।

निर्दयता के तन्त्र की स्थापना

परन्तु ब्रितानी प्रशासकों और भारतीय सुधारकों के प्रायः सौ वर्ष के प्रयासों के उपरान्त भी साधारण जनों में स्वयं खाने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने की प्रवृत्ति इतनी सबल एवं व्यापक

---

[६] डेविड काफ्फ कृत *द ब्राह्मोसमाज एण्ड द शेपिंग आफ द माडर्न इण्डियन माइण्ड*, प्रिंसटन १९७९, पृ.१०७-८ से उद्धृत।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

बनी रही थी कि १८०० ईसवी के 'दुर्भिक्ष आयोग' को दुर्भिक्ष के समय लोगों तक समुचित सहायता पहुँचाने के उपायों पर विचार करते हुए साधारण भारतीय जनों की इस प्रवृत्ति पर विशेष ध्यान देना आवश्यक लगा। तब तक भारत में ब्रितानी प्रशासन और उसका राजस्व पर्याप्त सुरक्षित आधार पर स्थापित हो चुका था। अतः तब के प्रशासकों के लिये ब्रितानी प्रशासन के प्रारम्भिक काल के किसी वेलसली अथवा बेंटिंक की भाँति सहज भारतीय वृत्तियों की दुराग्रहपूर्वक उपेक्षा करना आवश्यक नहीं था। १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्त अन्यों का भरण करने का प्रयास करने की सहज भारतीय वृत्ति से प्रशासन के कार्य में प्राप्त होने वाली लाभ-हानि पर शान्त-निष्पक्ष भाव से विचार कर सकते थे। परन्तु इस शान्त-निष्पक्ष विवेचन के उपरान्त १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्त भी प्रायः उसी परिणाम पर पहुँचते हैं जिस पर १७९९ में रिचर्ड वेलसली और १८२९ में विलियम बेंटिंक पहुँचे दिखायी देते हैं। दुर्भिक्ष-आयुक्तों का मानना है कि स्वयं उपभोग करने से पूर्व अन्यों का भरण करने की भारतीय वृत्ति वस्तुतः एक सामाजिक बुराई ही है, इस बुराई को साधारण समय पर तो कदाचित् अनदेखा किया जा सकता है, परन्तु भीषण दुर्भिक्ष जैसी आपदा के आने पर इसे दबाना ही उपयुक्त है। दुर्भिक्ष-आयुक्तों का कहना है कि भूखों को अन्न देने की भारतीय समाज की सहज वृत्ति का भीषण दुर्भिक्ष के समय पूर्णतया उन्मूलन कर पाना सम्भव न होता हो तो भी उसे नियन्त्रित करना तो आवश्यक ही होगा। दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में समुचित प्रशासनिक प्रबन्धों सम्बन्धी ७ जुलाई १८८० को प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में वे लिखते हैं कि [७]–

''भारत का देशज समाज दान-पुण्य की अपनी वृत्ति के लिये उचित ही विख्यात है। यहाँ सब वर्गों के लोग अपने परिवार, जाति, ग्राम अथवा नगर के दरिद्र एवं असहाय लोगों को अपनी क्षमता के अनुरूप सहायता पहुँचाना अपना धार्मिक कर्तव्य मानते हैं। निस्सहायों की सहायता करने के कर्तव्य की इस गहन भावना के समाज में सर्वव्याप्त होने के कारण ही सामान्य समय पर यहाँ राज्य की ओर से किसी प्रकार के सहायता कार्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु दान-पुण्य के देशज कार्य अङ्ग्रेजी व्यवस्था के अनुरूप नहीं चलते। दान-पुण्य करने वालों में किसी प्रकार का आपसी सहयोग नहीं हो पाता और इस सब में कोई सुव्यवस्थित तन्त्र बैठा पाना कठिन है। देशज दान-पुण्य में कुछ गिने-चुने याचकों का पूर्णतया भरण करने के स्थान पर अनेक याचकों को किञ्चित् अन्न देते चले जाने की वृत्ति अधिक दिखायी देती है। ...आपत्काल के प्रारम्भिक चरण में ऐसे दान-पुण्य को प्रोत्साहित किया जा सकता है, ...परन्तु दुर्भिक्ष के

[७] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन, लन्दन १८८०*, पुनर्मुद्रण, एग्रीकोल, नई दिल्ली १९८९, पैरा १८७, पृ.६०-१।

भीषण स्तर पर व्यापने के पश्चात् इस दान-पुण्य को किसी व्यवस्थागत नियन्त्रण में न लाया जाये तो यह विकट बुराई का रूप ले सकता है। ...जब समस्या को राज्य पूर्णतया अपने हाथ में ले लेता है, सहायता के योग्य सभी व्यक्तियों को किसी-न-किसी रूप में राज्य की ओर से सहायता प्रदान कर दी जाती है और सब भिखारियों एवं आकस्मिक दारिद्र्य से प्रभावित सब लोगों को रखने के लिये समुचित परिवृत्त परिसर की व्यवस्था कर दी जाती है, तब गलियों में भिक्षा माँगने और अनजान याचकों को भिक्षा देने की वृत्ति को निरुत्साहित करना, और सम्भव हो तो पूर्णतया निषिद्ध करना ही उचित है।''

वस्तुतः दुर्भिक्ष-आयुक्तों का आग्रह है कि जब राज्य दुर्भिक्षग्रस्त लोगों को सहायता देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है तब तो समाज को अपनी सहज सदयता को छिपाकर राज्य के मार्ग से बस हट ही जाना चाहिये। दुर्भिक्ष-आयुक्त सहायता कार्य में समाज का मात्र आर्थिक योगदान भी राज्य के लिये स्वीकार्य नहीं समझते। उनका कहना है कि[८] –

''जब राज्य सहायता के सभी योग्य पात्रों को सहायता प्रदान करने का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेता है तब ऐसी राजकीय सहायता व्यवस्था में लोगों से राज्य के इस कार्य में आर्थिक योगदान का कोई अनुरोध किये जाने का कोई औचित्य हमें दिखायी नहीं देता। लोगों से इस प्रकार का अनुरोध करना पुरानी व्यवस्थाओं का अवशेष मात्र है और जब राज्य के उत्तरदायित्व पर एवं राजकीय कोष के व्यय पर सुनिश्चित योजना के अनुसार प्रभावी सहायता का प्रबन्ध किया जाता है तब इस कार्य में लोगों से आर्थिक सहायता की अपेक्षा करना नितान्त अनुपयुक्त ही है। ...''

जिस राजकीय सहायता के प्रति दुर्भिक्ष-आयुक्त इतना गहन विश्वास दिखा रहे हैं वह उनकी अपनी अनुशंसाओं के अनुसार मात्र इतनी ही होनी थी कि सहायता के पात्रों से विशेषतः आयोजित सार्वजनिक कार्यस्थलों पर पूरे दिन का परिश्रम करवाकर उन्हें इतना वेतन दे दिया जाये जो उनके 'जीवननिर्वाह के लिये मात्र पर्याप्त हो, उससे कदापि अधिक नहीं।'[९] जिन लोगों का स्वास्थ्य इतना गिर चुका हो कि वे किसी प्रकार का परिश्रम करने के योग्य ही न रहे हो, उनके सन्दर्भ में दुर्भिक्ष आयुक्तों की अनुशंसा थी कि स्वास्थ्य निरीक्षकों द्वारा काम के अयोग्य

---

[८] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १८८, पृ.६१।

[९] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १११, पृ.३६। जीवन निर्वाह के लिये मात्र पर्याप्त वेतन देने और कदापि उससे किञ्चित् भी अधिक न देने का आग्रह रिपोर्ट में अनेक स्थानों पर हुआ है। इस सन्दर्भ में पैरा १४३, पृ.४३ और पैरा १८४, पृ.५० विशेष अवलोकनीय हैं।

प्रमाणित किये जाने पर उन्हें भिक्षा के रूप में कुछ थोड़ी-बहुत सहायता बिना काम करवाये दी जा सकती है, परन्तु आयुक्तों का आग्रह था कि ऐसी सहायता पाने वाला कोई व्यक्ति जैसे ही स्वास्थ्य निरीक्षकों की दृष्टि में काम के योग्य दिखने लगे, तब तुरन्त उसे दी जाने वाली यह तुच्छ सहायता रोक दी जाये। जो महिलाएँ 'जातिगत विधि-निषेधों' के कारण सार्वजनिक स्थानों पर उपस्थित नहीं हो सकती हों, उनके सन्दर्भ में आयुक्तों का कहना था कि उनके और उनके बच्चों के जीवन निर्वाह के लिये दी जाने वाली अन्न की सहायता के मूल्य के रूप में उनसे राज्य के लिये सूत कतवाने का काम ले लेना चाहिये।[१०] यह काम वे कदाचित् घर पर ही रहते हुए कर सकती थीं।

बिना किसी प्रतिकार की अपेक्षा किये किसी क्षुधित को अन्न देने के प्रति ब्रितानी प्रशासक ऐसी गहन वितृष्णा का भाव रखते थे। दूसरी ओर भारतीय जनों के लिये तो क्षुधित को इस प्रकार अन्न देना मानव-मात्र के मूलभूत अनुशासन का ही अङ्ग रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी से काम लिये बिना उसे अन्न देने से ब्रितानियों के किसी सहज नैतिक बोध का ही अतिक्रमण-सा होता था। वे लोगों पर आयी भीषण विपत्ति के समय भी उन्हें अन्न देने से पूर्व उनसे काम लेने का आग्रह करते रहे और ऐसे काल में भी वह अन्न के वितरण को कड़ाई से नियन्त्रित करते रहे। ऐसे नियन्त्रण के प्रति उनका आग्रह सर्वदा बना रहा, चाहे उनका अपना अनुभव यही था कि यहाँ के 'लोग सार्वजनिक दान स्वीकार करने के प्रति सङ्कोच का भाव' रखते हैं और 'वे अवसर मिलते ही स्वयं अपने परिश्रम से अपना निर्वाह कर पाने की तीव्र उत्कण्ठा' का परिचय देते हैं।[११]

दुर्भिक्ष-आयुक्तों का दुर्भिक्ष के प्रशासन सम्बन्धी १८८०ईसवी का प्रतिवेदन सार्वजनिक विपत्ति एवं सहायता के प्रबन्ध के लिये एक विशाल राजकीय तन्त्र की स्थापना का आधार बना। इस प्रकार ब्रितानी प्रशासकों के लोगों की विपत्ति एवं ऐसे विकट काल में लोगों की सहायता के प्रति विचार एवं संवेदनाएँ देश में अन्न की आपूर्ति एवं वितरण को नियन्त्रित करने की वृहत् राजकीय व्यवस्थाओं में मूर्त हो प्रायः स्थायित्व को पा गयीं। उस राजकीय तन्त्र और उसके पीछे के परकीय विचारों एवं संवेदनाओं को हम आज तक ढोते चले आ रहे हैं।

---

[१०] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १४४, पृ.४७। अपेक्षाकृत स्वस्थ सहायतार्थियों से परिश्रम करवाने के लिये विशेष कार्यस्थलों के आयोजन की चर्चा पैरा १२६ से १३६, पृ.४१-५ पर हुई है। परिश्रम करने में नितान्त अक्षम लोगों को स्वास्थ्य निरीक्षकों की स्पष्ट अनुशंसा पर भिक्षा के रूप में किञ्चित् सहायता दिये जाने का विषय पैरा १३७-४६, पृ.४५-८ पर उठाया गया है।

[११] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १०८, पृ.३५।

अन्नबाहुल्य से अन्नाभाव की ओर

संविभाग कर उपभोग में प्रवृत्त होने का सनातन भारतीय अनुशासन और उससे जुड़ी भारत की सहज सार्वजनिक व्यवस्थाएँ इस प्रकार ब्रितानी प्रशासकों एवं उनके भारतीय प्रशंसकों के उपहास, उपेक्षा एवं अनिष्टकारी नियन्त्रण का विषय बनीं। भारतीय अन्नानुशासन एवं उस अनुशासन को मूर्त करने वाली विशिष्ट भारतीय व्यवस्थाओं के विरुद्ध यह सुनियोजित-सा अभियान अङ्ग्रेजों के भारत आने के प्रायः साथ ही आरम्भ हो गया और उनके भारत से चले जाने के पश्चात् भी रुक नहीं पाया। समय पाकर भारत के लोगों का अनुशासन शिथिल होने लगा और अपने-आप को धर्म के पथ पर टिकाये रखने का सङ्कल्प दुर्बल पड़ने लगा। परन्तु भारत के लोगों का अनुशासन एवं सङ्कल्प ही क्षीण नहीं हो रहा था, अङ्ग्रेजों के आने के पश्चात् उनका संविभाजन का सामर्थ्य भी चुकने लगा था। स्वयं खाने से पूर्व अन्यों की क्षुधा मिटाने के अनुशासन के सम्यक् पालन के लिये जिस अन्नबाहुल्य की आवश्यकता होती है, वह बाहुल्य ही इस देश की सहज सस्यप्रबहुला धरती से उठने लगा था।

उत्पादकता का क्षीण होना

भारतवर्ष के किसी क्षेत्र में ब्रितानी प्रशासन की स्थापना के दस-बीस वर्षों के भीतर ही वहाँ अन्नबाहुल्य के स्थान पर अन्नाभाव व्यापने लगता था। जैसे-जैसे अङ्ग्रेज भारतीय समाज एवं राजतन्त्र की सहज परन्तु अत्यन्त वृहद् एवं सुपरिष्कृत व्यवस्थाओं को खण्डित कर भूमि की उपज में से अभूतपूर्व मात्रा में राजस्व अंश प्राप्त करने के प्रयास करते गये वैसे-वैसे भूमि के बड़े भाग को जोतना असम्भव होता गया और भूमि की उत्पादकता गिरती चली गयी।

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, मद्रास नगर के आसपास के चेङ्गलपेट् क्षेत्र में १७६० एवं १७७० ईसवी के दशकों में भूमि की माध्य उत्पादकता का न्यूनतम आकलन २.५ टन प्रति हेक्टेयर बैठता है। ब्रितानी प्रशासकों के प्रलेखों के अनुसार इस क्षेत्र में उत्पादकता का यह स्तर १७८८ तक तो बना ही रहा था, उस काल में इस क्षेत्र में लड़ी गयीं अनेक लड़ाइयाँ भी क्षेत्र की उत्पादकता को इससे निम्न स्तर तक नहीं ले जा पायी थीं। परन्तु १७९८ ईसवी में इस क्षेत्र की उत्पादकता मात्र ६३० किलोग्राम प्रति हेक्टेयर रह गयी थी।[१२] तब इस क्षेत्र को सीधे ब्रितानी प्रशासन के अधीन आये दस-बीस वर्ष ही हुए थे। इससे पहले ब्रितानी सम्प्रभुता में नवाब का शासन ही चल रहा था।

---

[१२] देखिये, आर. रत्नम कृत *एग्रीकल्चरल डिवेलपमेण्ट इन मद्रास स्टेट परायर टु १९००*, मद्रास १९६६, पृ. १११।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

अनुशासन से भ्रष्ट होना

इस क्षेत्र का प्रथम ब्रितानी 'जिला कलक्टर' लायनल प्लेस वस्तुतः इस क्षेत्र की तीव्रता से घट रही उत्पादकता के विषय में अत्यन्त चिन्तित था।[१३] इस स्थिति में उसके लिये पर्याप्त राजस्व एकत्र कर राजस्व आहरण के अपने मूल कर्तव्य का निर्वाह करना कठिन हो रहा था। उसका मानना था कि उत्पादकता में गिरावट का मुख्य कारण क्षेत्र में भेड़ों की संख्या के घटने से खेतों के लिये पर्याप्त खाद न मिल पाने में निहित था। और भेड़ों की संख्या इस लिये घट रही थी क्योंकि क्षेत्र में आये यूरोपीय लोग भेड़ों को खाते जा रहे थे। यूरोपीय लोगों के उपभोग के लिये भेड़ें इतनी बड़ी संख्या में काटी जा रही थीं कि लायनल प्लेस के अनुसार 'भेड़ों की जाति के समूल नाश की आशङ्का' उपस्थित हो आयी थी। उसका यह भी मानना था कि क्षेत्र के पड़ोस में स्थित मद्रास नगर के शीघ्रता से बढ़ने से क्षेत्र की भूमि गोबर एवं घास-फूस से वञ्चित होती जा रही थी। परन्तु उत्पादकता के इतनी शीघ्रता से घटने का सबसे बड़ा कारण कदाचित् यही था कि ब्रितानी प्रबन्धन के अधीन खेती घाटे का व्यापार बन गयी थी और कृषक खेत जोतकर भारी राजस्व देने के स्थान पर खेतों को खाली छोड़ना ही अधिक समीचीन पाते थे। खेतों को खाली छोड़ने की वृत्ति इतनी व्याप्त हो गयी थी कि स्वयं लायनल प्लेस को कृषकों को खेत जोतने पर विवश करने के लिये प्रायः बलप्रयोग तक करना पड़ता था।[१४]

उन्नीसवीं शती में भारत के विभिन्न भागों में भूमि की उपज एवं उत्पादकता के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। विभिन्न क्षेत्रों से जो छिटपुट सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर अधिकतर इतिहासज्ञ यही परिणाम निकालते हैं कि उन्नीसवीं शती की प्रायः पूरी अवधि में भारतवर्ष-भर में भूमि की उत्पादकता या तो घटती चली गयी या किसी अति निम्न स्तर पर रुकी रही। १८९० ईसवी के आसपास से खेती सम्बन्धी आँकड़ों का नियमित सङ्कलन किया जाने लगा। विशेषज्ञों में इस विषय पर मतभेद है कि नियमित सङ्कलन के प्रारम्भिक वर्षों के आँकड़ों पर किस सीमा तक विश्वास किया जा सकता है। परन्तु जो आँकड़ें सङ्कलित किये गये हैं उनसे तो यही प्रतीत होता है कि १८९० ईसवी के पश्चात् भी भूमि की उत्पादकता निरन्तर गिरती चली गयी। अतः यह मानना ठीक ही होगा कि अठारहवीं शती के अन्तिम दशकों से लेकर १९४७ ईसवी में स्वतन्त्रता प्राप्ति तक भारत में भूमि की उत्पादकता में कभी थोड़ी कभी अधिक, परन्तु निरन्तर गिरावट आती चली गयी। इस अवधि के अन्त पर भारतवर्ष में धान की माध्य

---

[१३] देखिये, लायनल प्लेस कृत *रिपोर्ट आन द सेटलमेण्ट फार फसलीस १२०२-४*, दिनाङ्क ६.१०.१७९५, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *चेङ्गलपेट् डिस्ट्रिक्ट रिकार्डस*, खण्ड ४९२, पैरा २५।

[१४] देखिये, लायनल प्लेस का मद्रास बोर्ड आफ रिवेन्यु के नाम पत्र, दिनाङ्क २२.१.१७९७, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *प्रोसीडिङ्गस आफ द बोर्ड आफ रिवेन्यु*, २५.१.१७९७, खण्ड १७२।

उत्पादकता मात्र एक टन प्रति हेक्टेयर रह गयी थी, गेहूँ एक हेक्टेयर पर ७०० किलोग्राम उगता था और मोटे अनाजों की उत्पादकता इस से भी कहीं निम्न स्तर पर थी।[१५]

अन्न की उपलब्धि में ह्रास

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों तक देश की कुल जोत भी सङ्कुचित होती जा रही थी। उस के पश्चात् जोता गया क्षेत्र कुछ बढ़ने लगा। परन्तु जोत में यह वृद्धि भूमि की उत्पादकता में आ रही निरन्तर गिरावट और जनसंख्या में हो रही किञ्चित् बढ़ोतरी की पूर्ति करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त ही थी। अतः प्रति व्यक्ति के भाग में आने वाले अन्न की माध्य वार्षिक मात्रा भी घटती चली गयी। अन्न की उपलब्धि में आने वाली इस गिरावट का सर्वाधिक स्पष्ट एवं अत्यन्त दुःखद प्रमाण तो ब्रितानी प्रशासन की अवधि में भारत के विभिन्न भागों में समय-समय पर व्यापने वाले दुर्भिक्षों के प्रायः अनन्त क्रम में ही देखा जा सकता है।

सन् १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयोग का अनुमान था कि जिस क्षेत्र को उस समय 'ब्रिटिश इण्डिया' कहा जाता था उस में साधारणतया ६.६ करोड़ हेक्टेयर जोत पर ५.१ करोड़ टन अनाज का उत्पादन होता था, और इस क्षेत्र की जनसंख्या उस समय १८.१ करोड़ थी।[१६] अतः इस अनुमान के अनुसार तब तक भूमि की माध्य उत्पादकता मात्र ८०० किलोग्राम प्रति हेक्टेयर रह गयी थी और अन्न की प्रति व्यक्ति माध्य वार्षिक उपलब्धि मात्र २८० किलोग्राम थी। अन्न उपलब्धि के इस स्तर की तुलना अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् क्षेत्र में उपजाये जाने वाले प्रायः ५.५ टन प्रति कुटुम्ब अनाज की मात्रा से की जानी चाहिये। चेङ्गलपेट् के जिस ब्रितानी कलक्टर लायनल प्लेस की चर्चा पहले हुई है, उसके अनुसार इस क्षेत्र के माध्य कुटुम्ब में तब ४-५ सदस्य हुआ करते थे।[१७] इस का अर्थ है कि अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में प्रति व्यक्ति के भाग में आने वाले अन्न की माध्य मात्रा १ टन प्रति वर्ष के आसपास थी, और १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्त अपने समय पर इस मात्रा को २८० किलोग्राम प्रति वर्ष आँक रहे थे।

दुर्भिक्ष-आयोग द्वारा आँके गये ५.१ करोड़ टन के सकल अन्न उत्पादन में से आयोग के ही अनुमानों के अनुसार ३० लाख टन पशुओं का भाग होता था और ५०लाख टन भविष्य

---

[१५] देखिये, जे.के. बजाज कृत *ग्रीन रिवाल्यूशन इन द हिस्टारिकल परस्पेक्टिव*, पी.पी.एस.टी. बुलेटिन, मद्रास, नवम्बर १९८२, पृ.१०४।

[१६] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १५६, पृ.५०।

[१७] देखिये, लायनल प्लेस कृत *रिपोर्ट आन द सेटलमेंट आफ जागीर फार फसलीस १२०५-७*, दिनाङ्क ६.६.१७९९, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *बोईस मिसलेनियस वाल्युम्स*, चेङ्गलपेट्, खण्ड ४५, पैरा ३२६, पृ.३००।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

के लिये बचाकर रख लिया जाता था। इस के अतिरिक्त बीज के लिये बरते जाने वाले और अन्यथा व्यर्थ होने वाले अन्न को भी घटा दिया जाये तो कुल ३.८ करोड़ टन अन्न भोजन के लिये शेष रहता था। अतः तब भारत में प्रति व्यक्ति को उपलब्ध होने वाले भोजन की माध्य वार्षिक मात्रा २१० किलोग्राम अनाज के तुल्य थी। आयोग का अनुमान था कि इतनी मात्रा में भोजन की उपलब्धि भारतीय जनसंख्या को दुर्भिक्ष के स्तर से ऊपर रखने के लिये मात्र पर्याप्त थी। अपने पूरे प्रतिवेदन में दुर्भिक्ष-आयुक्त अपना सब गणित इस आधार पर करते हैं कि किसी दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्र में लोगों को भूख से मरने से बचाने के लिये उस क्षेत्र में प्रति पाँच व्यक्तियों के लिये एक टन और बहुत कठिनाई हो तो छह व्यक्तियों के लिये एक टन अनाज उपलब्ध करवाना सर्वथा अनिवार्य होगा।

सन् १८९० ईसवी में जब व्यवस्थित ढङ्ग से खेती सम्बन्धी आँकड़े सङ्कलित करने का प्रथम प्रयास हुआ तो प्रति व्यक्ति माध्य वार्षिक उत्पादन दुर्भिक्ष आयोग के २८० किलोग्राम के अनुमान से कहीं अल्प निकला। उन आँकड़ों के अनुसार तब देश में अनाज का उत्पादन मात्र २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष हो रहा था।[१८] स्वतन्त्रताप्राप्ति के समय के आसपास देश में अनाज का प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन और भी घट चुका था। १९५० के दशक के प्राथमिक वर्षों में देश के ३६ करोड़ लोगों के लिये कुल ५.३ करोड़ टन अन्न उपजाया जा रहा था, अतः तब प्रति व्यक्ति माध्य उत्पादन मात्र १५० किलोग्राम प्रति वर्ष ही रह गया था।[१९]

स्वतन्त्र भारत अन्नाभाव से उबर नहीं पाया

स्वतन्त्रताप्राप्ति के तुरन्त पूर्व एवं तुरन्त पश्चात् के कुछ वर्ष अन्न उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति अन्न की उपलब्धि के गणित से विशेष दुर्भाग्यपूर्ण थे। स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही स्थिति में कुछ सुधार आने लगा। साठ के दशक के प्रारम्भ पर देश में अनाज का उत्पादन १८० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष और सत्तर के दशक में १९० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष तक होने लगा था। आजकल देश में ९० करोड़ लोगों के लिये प्रायः १८ करोड़ टन अनाज उपजता है, अतः प्रति व्यक्ति माध्य वार्षिक उत्पादन अब २०० किलोग्राम के आसपास है।

इस प्रकार स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् के पाँच दशकों के अपने सब प्रयासों का प्राप्य मात्र इतना है कि देश में अन्न का प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन अब प्रायः सौ वर्ष पूर्व १८९० ईसवी

---

[१८] देखिये, जार्ज ब्लिन कृत *एग्रीकल्चरल ट्रेण्डस इन इण्डिया : १८९१-१९४७*, यूनीवर्सिटी आफ पेनसिलवेनिया, फिलेडेलफीया १९६६।

[१९] देखिये, जे.के. बजाज, उपरोक्त, पृ.१०४।

में आँके गये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष उत्पादन के तुल्य हो पाता है। २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का यह माध्य उत्पादन अङ्ग्रेजों का प्रशासन स्थापित होने से पूर्व अठारहवीं शती में चेङ्गलपेट् जैसे अपेक्षाकृत कठिन तटीय क्षेत्र में होने वाले प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष उत्पादन का पाँचवाँ अंश मात्र है। अङ्ग्रेजी प्रशासन की दो-अढ़ाई सौ वर्षों की अवधि में इस देश में व्यापे अन्नाभाव का निवारण करने का कार्य तो हम प्रारम्भ भी नहीं कर पाये।

देश में अब जो २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति का माध्य वार्षिक उत्पादन होता है, उसमें से बीज का और कुछ मात्रा में सहज ह्रास का प्रबन्ध तो करना ही पड़ता है। अतः हम देश में उपजाये गये अन्न में से पशुओं का किञ्चित् भी भाग न निकालें, तो भी इस देश के माध्य व्यक्ति के भोजन के लिए मात्र १८० किलोग्राम वार्षिक अनाज की मात्रा ही बचती है। अनाज की यह मात्रा १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्तों के अनुसार साधारण लोगों के भूख से मरने की स्थिति का प्रतिकार करने के लिये न्यूनतम अपेक्षित मात्रा है। विश्व में आज कुछ गिने-चुने ही ऐसे देश होंगे जहाँ लोगों के भोजन के लिये इतनी अल्प मात्रा में अनाज उपलब्ध हो पाता है।

हमारा माध्य भोजन विश्व भर में न्यूनतम है

मानव का मुख्य भोजन प्रायः सब स्थानों पर अनाज, दालों, कन्दमूलों और मांस-मछली पर ही आधारित है। विभिन्न देशों में इस मुख्य भोजन के उपभोग की मात्रा का आकलन किया जाये तो एक स्थूल अनुमान यह बैठता है कि विश्व के अधिकतर देशों में मुख्य भोजन का माध्य उपभोग ३०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष तक तो होता ही है।[२९] यूरोप के विभिन्न देशों और विश्व के उन भागों में जहाँ यूरोपीय मूल के लोग जा बसे हैं, इस ३०० किलोग्राम वार्षिक मुख्य भोजन में मांस-मछली का अंश १०० किलोग्राम तक हो सकता है। अफ्रीका एवं एशिया में मांस-मछली का उपभोग अपेक्षाकृत अल्प होता है, यहाँ मांस-मछली का माध्य उपभोग ३० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ही बैठता है, और ३०० किलोग्राम मुख्य भोजन का शेष भाग अनाज एवं कन्दों से पूरा होता है। विश्व के जिन भागों में कन्दों का उपभोग अधिक होता है वहाँ मुख्य भोजन की कुल मात्रा प्रायः ३०० किलोग्राम से कहीं अधिक होती है। अफ्रीका के अनेक देशों में कन्द लोगों के मुख्य भोजन का प्रधान अंश हैं, और अफ्रीका के सर्वाधिक जनाकीर्ण देश नाइजीरिया में मुख्य भोजन का माध्य उपभोग ४२० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष बैठता है। इस ४२० किलोग्राम मुख्य भोजन में कन्दों का अंश प्रायः ३२० किलोग्राम है।

[२९] विश्व के विभिन्न देशों में अन्न उपलब्धि सम्बन्धी यहाँ प्रस्तुत सब आँकड़े संयुक्त राष्ट्र की अन्न एवं कृषि संस्था (एफ.ए.ओ.) द्वारा १९९० ईसवी के लिये सङ्कलित आँकड़ों से लिये गये हैं।

अनुशासन से भ्रष्ट होना

भारतीय लोगों का मुख्य भोजन प्रायः पूर्णतया अनाज एवं दालों पर आधारित है। मांस-मछली का उपभोग हमारे यहाँ अल्प मात्रा में होता है और कन्द भी अधिक नहीं खाये जाते। १९९० ईसवी के आँकड़ों के अनुसार भारत में मांस-मछली का माध्य उपभोग ७.५ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है। हम २०.५ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आलू के उपभोग को भी देश के मुख्य भोजन का अंश मान लें तो माध्य भारतीय का कुल मुख्य भोजन २०० किलोग्राम प्रति वर्ष से थोड़ा ही ऊपर बैठता है।

इस प्रकार भारत का माध्य भोजन विश्व के सामान्य स्तर से कोई एक तिहाई नीचे है। भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर विश्व के कुछ ही देश ऐसे हैं जहाँ लोगों को उपलब्ध मुख्य भोजन की माध्य मात्रा हमारे जैसी अल्प है। अफ्रीका के सूडान, इथोपिया एवं सोमालिया और केन्द्रीय एवं दक्षिण अमरीका के ग्वाटेमला, हेती एवं पेरू जैसे कुछ देश इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ऐसे अधिकतर देश तो दीर्घ काल तक राजनैतिक अथवा दैवी विपत्तियों में से निकलते रहे हैं। और, इन में से कुछ देशों में अनाज और मांस-मछली के अतिरिक्त कोई-न-कोई अन्य ऐसा भोजनांश इतनी प्रचुरता में उपलब्ध रहता है कि उसे साधारण लोगों के मुख्य भोजन का अङ्ग माना जा सकता है। उदाहरणतया, सूडान में ११६ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष और सोमालिया में २२६ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष दूध उपलब्ध है। अफ्रीका और दक्षिण एवं केन्द्रीय अमरीका के कई अन्य देशों में जहाँ मुख्य भोजन की माध्य उपलब्धि अपेक्षाकृत कुछ अल्प दिखायी देती है, वहाँ प्रायः केलों एवं अन्य फलों का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में होता है कि इससे निश्चय ही साधारण जनों का मुख्य भोजन समृद्ध हो जाता होगा।

जो देश कुछ काल तक राजनैतिक एवं दैवी विपदाओं से मुक्त रह पाते हैं, वे प्रायः सर्वदा ही अपने लोगों के लिये इतना भोजन तो उपलब्ध करवाते ही हैं कि वहाँ मुख्य भोजन का माध्य उपभोग ३०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष के आसपास तक हो पाये। नैसर्गिक उत्पादकता से वञ्चित अनेक देश भारी मात्रा में भोजन का आयात कर अपने लोगों के लिये इस स्तर तक उपभोग कर पाना सुनिश्चित करते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के देशों के अतिरिक्त इस नियम का अपवाद केवल एशिया में थाईलैण्ड और अफ्रीका में कीन्या, बस यही दो देश हैं। कदाचित् यह मात्र संयोग नहीं है कि भारतीय उपमहाद्वीप के देशों की भाँति ही थाईलैण्ड और कीन्या का सार्वजनिक जीवन भी ब्रितानी विचारों एवं संवेदनाओं से प्रभावित होता रहा है और हमारी ही भाँति वे भी उस प्रभाव से अपने-आप को मुक्त नहीं कर पाये हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर नेपाल में मुख्य भोजन का माध्य उपभोग २६० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है, जो हमारी अपेक्षा पर्याप्त ऊँचा है। बाङ्ग्लादेश का २३० किलोग्राम

प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का उपभोग हम से तो कुछ अच्छा ही है। श्रीलङ्का में अनाज, दालों एवं मांस-मछली का उपभोग २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष तक ही हो पाता है, परन्तु वहाँ ७० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष नारियल का उपभोग भी होता है, और नारियल वहाँ मुख्य भोजन के अंश-सा ही है। केवल पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान की स्थिति मुख्य भोजन के माध्य उपभोग के सन्दर्भ में हमसे कुछ निकृष्ट दिखायी देती है।

भारत और उसके कतिपय पड़ोसियों की परिस्थिति अत्यन्त असामान्य है। हम मुख्य मानवीय भोजन के माध्य उपभोग के ऐसे निम्न स्तर पर जी रहे हैं, जो विश्व में अन्यत्र कहीं भी सामान्यतः स्वीकार करने योग्य नहीं माना जायेगा। उपभोग का हमारा स्तर वस्तुतः उन्नीसवीं शती के ब्रितानी प्रशासकों द्वारा दुर्भिक्षकाल के लिये अनुशंसित उपभोग के ही तुल्य है।

यह स्थिति मात्र सीधे मानवीय उपभोग के लिये उपलब्ध भोजन की मात्रा के सन्दर्भ में है। जब सीधे मानवीय उपभोग के अतिरिक्त अन्य कार्यों में लगाये गये अन्न की मात्रा का भी आकलन करते हैं तो भारत की स्थिति विश्व के अन्य देशों की तुलना में और भी अधिक निकृष्ट दिखायी देने लगती है। भारत में अनाज एवं खाने योग्य कन्द की कुल उपलब्धि मात्र २३० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है। इस उपलब्धि में से बीज के लिये उपयोग किया गया और अन्यथा व्यर्थ गया अंश निकाल दिया जाये तो प्रायः २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की मात्रा बच रहती है, और यह पूरी-की-पूरी मात्रा मानवीय उपभोग में आ जाती है। इस प्रकार पशुओं के लिये अनाज अथवा कन्द का कोई अंश शेष नहीं बचता। विश्व के अधिकतर देशों में पशुओं के लिये बड़ी मात्रा में अनाज एवं कन्द उपजाये अथवा आयात किये जाते हैं। विश्व भर में अनाज एवं कन्द का जो कुल उत्पादन होता है उसका प्रायः आधा भाग ही सीधे मानवीय उपभोग के काम आता है, शेष आधे भाग का बड़ा अंश पशुओं को ही खिलाया जाता है। यूरोप में सीधे मानवीय उपभोग, पशुओं के चारे और उपभोग से सम्बन्धित अन्य कार्यों में आने वाले कुल अनाज एवं कन्द की मात्रा ७०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष बैठती है। उत्तरी अमरीका के संयुक्त राज्यों में प्रायः ९०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की मात्रा में अनाज एवं कन्द प्रत्यक्ष मानवीय उपभोग, पशुचारे एवं उपभोग सम्बन्धी अन्य कार्यों में उपयुक्त होते हैं। जैसा कि हमने देखा है, अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में भी प्रायः इतनी मात्रा में अनाज उपलब्ध होता था। अर्वाचीन चीन में सीधे मानवीय उपभोग, पशुचारे एवं अन्य कार्यों के लिये अनाज एवं कन्द की उपलब्धि ४५० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष बैठती है।

हम अपने पशुधन के लिये अपने यहाँ उपलब्ध अनाज आदि में से वैसा ही भाग निकालें जैसा पशुओं के लिये विश्व के अन्य देशों में निकाला जाता है तो हमें अपना अन्न उत्पादन

दोगुना से भी अधिक करना पड़ेगा। क्योंकि हम इतनी अल्प मात्रा में अनाज का उत्पादन कर रहे हैं, इसलिये हम अपने २७ करोड़ पशुओं के लिये अनाज का किञ्चित् अंश भी नहीं छोड़ पाते। यूरोप के प्रायः १२.४ करोड़ पशुओं को १७ करोड़ टन अनाज और ५.४ करोड़ टन कन्द खिलाये जाते हैं। चीन के एक करोड़ पशुओं और ३ करोड़ सूकरों के लिये ६.३ करोड़ टन अनाज और ६ करोड़ टन कन्द का प्रबन्ध होता है।

भारत में अनाज का उत्पादन हमारी आवश्यकताओं की तुलना में इतनी तुच्छ मात्रा में होता है कि हमारे लोग और हमारे पशु दोनों ही भूखे रह जाते हैं।

अभाव एवं निर्दयता देश की परिणति हो गये

भारत में अन्न की उपलब्धि सम्बन्धी आँकड़े निश्चय ही लोगों एवं पशुओं में व्याप रही अविरत क्षुधा की स्थिति की ओर सङ्केत करते हैं। किसी देश के लोगों के कल्याण-मङ्गल को मापने के लिये गढ़े गये समस्त सांख्यिकी मापदण्ड भारत में भूख की व्यापकता को ही प्रमाणित करते प्रतीत होते हैं। प्रायः सर्वत्र मान्य और सर्वत्र ज्ञात आँकड़ों के अनुसार भारत के ४० प्रतिशत लोगों को इतना भोजन भी नहीं मिल पाता कि वे उससे मात्र जीवनयापन के लिये आवश्यक मानी गयी न्यूनतम ऊर्जा के तुल्य पोषण पा सकें, पाँच वर्ष से छोटी आयु के भारत के ६३ प्रतिशत बच्चे इतनी भूख झेल चुके हैं कि कुपोषण के प्रभाव उनके शरीर के विकास में दिखायी देते हैं, और भारत की ८८ प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ इतना अल्प पोषण पाती हैं कि वे रक्तक्षीणता के रोग से ग्रस्त हैं।[२१]

परन्तु भारत में सर्वत्र व्याप रही क्षुधा का परिचय पाने के लिये आँकड़ों को जानना आवश्यक नहीं है। भारत के किसी भी छोटे-बड़े नगर में गायों और कुत्तों को कूड़े के ढेरों में मुँह मार-मार कर खाने योग्य जूठन के कुछ टुकड़े पाने का प्रयास करते देखा जा सकता है। अपेक्षाकृत बड़े नगरों में प्रायः कोई बच्चा और कभी-कभार कोई वयस्क भी उन जूठन के टुकड़ों की खोज में गायों और कुत्तों से होड़ लेता दिखायी दे जाता है। आजकल भारत के सामान्य परिवारों के घरों से निकलने वाले कूड़े में खाने योग्य प्रायः कुछ नहीं होता, बासी एवं जूठे अन्न को भी अब फेंका नहीं जाता। अतः सड़कों-गलियों में घूमती गायें कूड़े के ढेरों से कागज और प्लास्टिक के टुकड़े खा-खा कर अपना पेट भरने का प्रयास करती हैं, गलियों के कुत्ते भूख से विकल हो

[२१] उदाहरणतया देखिये, संयुक्त राष्ट्र विकास अभियान (यू.एन.डी.पी.) की *ह्यूमेन डिवलपमेण्ट रिपोर्ट १९९४*, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली १९९४, पृ.१५१ एवं १६५।

रात-रात भर रोते-चिल्लाते रहते हैं, और मानव जाति के बालक और वयस्क भूख से प्रायः बौराये हुए राजमार्गों और गलियों के किनारे खड़े अथवा लेटे पड़े दिखायी दे जाते हैं।

देश-भर को भिन्न-भिन्न दिशाओं से लाँघती हुई यहाँ आधुनिकता के आविर्भाव का दुन्दुभिवादन-सा करती फिरतीं भारत की महान् रेलगाड़ियों की यात्रा चहुँ ओर व्याप्त क्षुधा के और भी निकट से दर्शन करवा जाती हैं। अनेक नन्हे-नन्हे बालक पेट-भर जूठन पाने की आशा से इन गाड़ियों के डिब्बे बुहारते दिखते हैं। उनकी आँखें शैशव एवं लड़कपन की सहज प्रखरता से चमक रही होती हैं, और वे अपनी उस प्रखरता का धैर्यपूर्वक दमन कर यात्रियों एवं रेल कर्मचारियों की निरन्तर दुतकार झेलते चले जाते हैं। उन जैसा धैर्य, साहस एवं कर्मठता जुटाने में अक्षम उनके भाई-बन्धु प्लैटफार्मों पर खड़े होकर तरसती आँखों से यात्रियों को भोजन करते देखते हैं और किसी यात्री से बासी-सूखी रोटी का कोई टुकड़ा अथवा एक-आध इडली मिल जाने पर उनकी आँखें कृतज्ञता से डबडबा आती हैं।

देश के अत्यन्त पुण्य तीर्थस्थलों की यात्रा पर निकलने पर तो देश में व्याप्त क्षुधा के दृश्य तीव्रतर विकरालता से उपस्थित होने लगते हैं। ये वही तीर्थस्थल हैं जिनकी ओर जाने वाले मार्ग सब को सतत आश्रय एवं अशन प्रदान करने वाले छत्रों से आकीर्ण होते थे। उन छत्रों में आधी रात के समय उस दिन का अन्नसत्र समाप्त करने से पहले घण्टियाँ बजाकर घोषणा की जाती थी कि जिन यात्रियों को मार्ग में विलम्ब हो गया हो वे शीघ्रता से आयें और अपने भाग का अन्न ग्रहण करें। और उन छत्रों में पहुँचकर अनजान लोगों के अनाथ बच्चे वयस्क होने तक स्नेह एवं श्रद्धापूर्वक भरण-पोषण पाने का भरोसा पा जाते थे। आजकल उन्ही पुण्यस्थलों की ओर जाने वाली गाड़ियाँ और राजमार्ग सर्वव्याप्त अनन्त क्षुधा के अविस्मरणीय बिम्ब मन पर छोड़ जाते हैं। तिरुपति जैसी महान् तीर्थनगरी, जहाँ से सहस्रों यात्रियों की एक अजस्र धारा बहती चली जाती है, ऐसी पुण्य नगरी तिरुपति के मुख्य मार्ग पर पाँच-छह बरस की कोई बच्ची भूख से विकल हो रहे अपने नन्हे भाई के मुँह में दूध की खाली बोतल लगाकर उसे किसी प्रकार चुप करवाने का प्रयास कर रही हो – यह विकराल दृश्य भला कोई कैसे भुला सकता है।

अन्न उत्पादन एवं अन्न उपलब्धि के आँकड़े और देश के छोटे-बड़े नगरों की गलियों-कूचों में एवं प्रायः सब सार्वजनिक स्थानों पर नित्य घटने वाले विकराल दृश्य इस देश में व्याप्त गहन क्षुधा का ही वर्णन करते हैं। परन्तु इस देश के कर्ता-धर्ता हम सब समर्थ जनों का आग्रह है कि हमारे पास अपनी आवश्यकता के लिये पर्याप्त अन्न उपलब्ध है। बड़े-बड़े अर्थशास्त्री और अन्य नीतिनियोजक १९७० के दशक के प्रारम्भ से ही देश में अन्न की प्रचुरता का उद्घोष करते आये हैं। अब नब्बे के दशक में वे कहने लगे हैं कि देश में उपलब्ध अन्न न केवल हमारी आवश्यकताओं

के लिये पर्याप्त है, वस्तुतः हमारे यहाँ अन्न का किञ्चित् अतिरेक ही हो गया है। अतः उनका सुझाव है कि हमें अनाज का निर्यात कर कुछ विदेशी मुद्रा अर्जित कर लेनी चाहिये, अथवा अनाज उगाने के लिये उपयोग की जा रही भूमि पर अनाज के स्थान पर सरलता से निर्यात करने योग्य अन्य कोई सस्य उगा लेना चाहिये।

देश में अन्न की प्रचुरता का यह आग्रह इस आधार पर किया जा रहा है कि देश में जो अनाज उत्पन्न होता है वह अर्थशास्त्रीय दृष्टि से समुचित मूल्यों पर देश में पूरा बिक नहीं पाता। अतः अर्थशास्त्रियों एवं नीतिनियोजकों का कहना है कि जिनके पास अन्न का समुचित मूल्य चुकाने का सामर्थ्य है उनके लिये देश में अन्न का कोई अभाव नहीं है। और जो मूल्य चुकाने में असमर्थ हैं वे कदाचित् खाने के पात्र भी नहीं हैं। देश में पशुओं के लिये अनाज का किञ्चित् भी भाग न होने के तथ्य के स्पष्टीकरण में भी ऐसा ही तर्क प्रस्तुत किया जाता है। कहा जाता है कि हम न पशुओं को खाते हैं न हमें उन्हें खिलाने की आवश्यकता है। हम पशुओं से आर्थिक लाभ नहीं पाते तो उनके लिये अनाज में भाग रखने का आर्थिक औचित्य भी नहीं रहता। इस प्रकार, इस कोटि के मानवीय सदयता से रिक्त एवं सर्वथा धर्मविरुद्ध तर्कों के आधार पर, हम देश में व्याप्त क्षुधा और अन्नाभाव दोनों को ही मान्य बनाते चले जाते हैं।

भारतीय सभ्यता में प्रशंसित अन्न सम्बन्धी अनुशासन का तो सार ही यही है कि जो भी इस धरती पर जन्म लेता है वह समुचित भोजन पाने का अधिकारी है। विश्व की अन्य सभ्यताएँ भी इस अनुशासन को तो मानती ही हैं। यह सत्य है कि विश्व के इतर लोग किसी प्राणी को भोजन करवाकर प्रायः उससे समुचित आर्थिक प्रतिकार की अपेक्षा रखते हैं। हम भारतीय अन्यों को भोजन करवाने के कर्म को स्वयं अपने-आप में ही श्रेयस्कर मानते आये हैं। अन्यों के मुख पर क्षुधाशान्ति से व्यापने वाले सन्तोष का दर्शन ही अन्यों को भोजन करवाने का सब से उत्तम फल है। विश्व के इतर लोग अन्यों की क्षुधाशान्ति के प्रति ऐसा निःस्वार्थ भाव नहीं रखते। परन्तु वे भी यह तो नहीं मानते कि जिन मनुष्यों अथवा पशुओं से आर्थिक लाभ पाना सम्भव न हो उन्हें भूखे मरने दिया जा सकता है। अन्यों की क्षुधा के प्रति ऐसा असम्पृक्त भाव तो किसी भी समाज में मान्य नहीं होता। सब स्वस्थ समाज स्वस्थ एवं पुष्ट मनुष्यों एवं पशुओं को अपने-आप में ही उपयोगी माना करते हैं।

हम भारतीय जो समस्त सृष्टि के भरण के प्रति ऐसे सतर्क-सचेत हुआ करते थे, अब अपने ही आसपास के मनुष्यों एवं पशुओं की भूख के प्रति असम्पृक्त हो गये हैं। एक असहज-सी निष्ठुरता एवं निर्दयता हमारे भीतर समा गयी है। हम अपने चहुँ ओर व्याप्त क्षुधा को देखते हुए भी उसके प्रति निश्चिन्त हैं। अन्यों का भूखा रहना हमें सहज-सामान्य लगने लगा है। अन्यों

की क्षुधा के प्रति निश्चिन्तता का यह भाव तो निश्चय ही पाप ही है, और हम सब, इस देश के सब समर्थ जन, इस घोर पाप के भागी हैं।

इस पाप का प्रायश्चित्त करना होगा

हम अपने सार्वजनिक जीवन को इस प्रकार पापमय तो नहीं बनाये रख सकते। पाप का ऐसा भारी बोझा ढोते हुए कोई समाज अपने-आप में सहज-स्वस्थ कैसे हो सकता है? अपनी खोयी हुई अस्मिता को आज के विश्व में पुनः प्रतिष्ठापित करने से पूर्व हमें यहाँ व्याप्त क्षुधा का निवारण तो करना ही होगा।

हमारे भाग में आये इस पाप का समुचित प्रतिकार तो तभी हो पायेगा जब हम अपने चिरन्तन ऋषियों से श्रुत 'अन्नं बहु कुर्वीत' के अनुल्लङ्घनीय व्रत को पुनः अङ्गीकार करते हुए देश में बहुमात्रा में अन्न का उत्पादन प्रारम्भ कर देंगे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् के पाँच दशकों में हमने अपने देश की कृषि को पुनः जीवन्त करने के कुछ प्रयास तो किये ही हैं। इन प्रयासों के फलस्वरूप आज देश में अनाज की माध्य उपज २ टन प्रति हेक्टेयर के पास पहुँची है। परन्तु उत्पादकता का यह स्तर अठारहवीं शती में चेङ्गलपेट् जैसे अपेक्षाकृत कठिन तटीय क्षेत्र में अर्जित उत्पादकता से नीचे बैठता है, और आज विश्व के प्रायः किसी भी अन्य वृहत् क्षेत्र में उत्पादकता का जो स्तर है, उसकी तुलना में भारत की माध्य उत्पादकता तो अत्यल्प ही है। वस्तुतः कृषि की उत्पादकता बढ़ाने के हमारे सब प्रयास देश की प्रायः ३० प्रतिशत भूमि तक ही सीमित रहे हैं। यह भूमि देश के अपेक्षाकृत साधनसम्पन्न क्षेत्रों में है और इन क्षेत्रों में प्रचुर पूँजी का नियोजन कर आधुनिक महँगे ढङ्ग की जो खेती की जाती है, उससे उपजे अनाज का मूल्य इतना ऊँचा होता है कि देश के सामान्य जन उस अनाज का उपभोग करने योग्य आर्थिक सामर्थ्य अपने में नहीं पाते। देश की शेष ७० प्रतिशत कृषिभूमि साधनहीनता एवं उपेक्षा की उसी स्थिति में पड़ी है जिस में लाकर अङ्ग्रेज उसे छोड़ गये थे। नितान्त उपेक्षित पड़ी देश की इस ७० प्रतिशत कृषिभूमि का बड़ा अंश भारतभूमि पर बहने वाली अनेक जीवनदायिनी नदियों द्वारा निर्मित अति उर्वर समतल-सपाट क्षेत्रों में पड़ता है। इस सहज उर्वर भूमि पर हमारे साधनहीन किसान दैवमातृक कृषि करते हुए वर्ष-भर में मात्र एक नगण्य-सा सस्य उगा पाते हैं।

भारत की यह अति उर्वर भूमि किञ्चित् साधनों एवं सघन परिश्रम की और साधनों एवं परिश्रम से भी अधिक, समुचित मनोयोग की अपेक्षा करती है। हमारा चित्त देवों के वरदानस्वरूप प्राप्त हुई इस देश की असाधारण उर्वर भूमि पर स्थिर होने लगे तो शीघ्र ही यह

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

सहज सस्यप्रबहुला भूमि हमें उसी अन्नबाहुल्य से सम्पन्न कर देगी जिस बाहुल्य की भारत के चिरन्तन चिन्तन में इतनी महिमा रही है। इस प्रकार भूमि के पुनर्जीवित होने से देश के असंख्य साधारण जन भी पुनर्जीवन ही पा जायेंगे। भूमि के निष्प्रयोजन पड़े रहने से स्वयं निष्प्रयोजन हुए असंख्य भारतीय जन भूमि पर परिश्रम करने का अवसर पाकर पुनः जी ही जायेंगे।

भारत के सम्भ्रान्त जनों में देश की बढ़ती जनसंख्या के प्रति चिन्ता व्यक्त करते रहने का चलन-सा हो गया है। देश की अन्य सब समस्याओं की भाँति क्षुधा की समस्या भी बढ़ती जनसंख्या का ही परिणाम बतायी जाती है। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि भारतभूमि तो अन्यत्र सर्वथा अप्राप्य दुर्लभ नैसर्गिक उर्वरकता से सम्पन्न है। भारतवर्ष के भौगोलिक क्षेत्र का आधे से भी अधिक भाग कृषियोग्य है, भारत के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र को किसी-न-किसी सदासलिला पुण्य नदी के जल से परिपूर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त है, और भारतभूमि पर सूर्यदेवता की ऐसी कृपा है कि प्रायः समस्त क्षेत्रों में वर्ष में बारहों महीने सस्य का आरोहण होता चला जाता है। प्रकृति विश्व के अन्य किसी देश पर ऐसी उदार तो कदाचित् नहीं ही हुई। ऐसी विपुल नैसर्गिक सम्पदा से सम्पन्न किसी देश का जनाकीर्ण होना तो स्वाभाविक ही है, भारतभूमि सदा विश्व के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक जनाकीर्ण ही रही है। आज तो चीन की प्रति हेक्टेयर कृषिभूमि पर हमारे से दोगुना लोग हमारे से कदाचित् दोगुना समृद्ध भरण पा रहे हैं, और यूरोप की भूमि जिसे सूर्य के उर्वर तेज से आप्लावित होने का सौभाग्य वर्ष में कुछ ही दिन प्राप्त हो पाता है, वह प्रायः वञ्चित कृषि भूमि भी प्रति हेक्टेयर प्रायः हमारे जितने लोगों का निर्वाह कर पा रही है। अपनी प्राकृतिक सम्पदा और विश्व के अन्य भागों में आज व्याप्त जनसंख्या की दृष्टि से तो हमारे यहाँ निश्चय ही इस सन्दर्भ में कोई अतिरेक हुआ दिखायी नहीं देता।

भारतभूमि से अन्नभाव का पाप तभी धुल पायेगा जब भारत की प्रायः निष्प्रयोजन पड़ी कृषिभूमि पर पुनः परिश्रम एवं मनोयोग से खेती होने लगेगी, और हम भारतभूमि को प्राप्त नैसर्गिक बाहुल्य को कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार कर उस दैवकृत बाहुल्य से अन्नबाहुल्य का उपार्जन करने लगेंगे। हमने इस दिशा में अभी किञ्चित् ही ध्यान दिया है। हम देश में अनाज के उत्पादन में किसी प्रकार २.५ प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि प्राप्त कर जनसंख्या में हो रही सहज वृद्धि की पूर्ति करने का प्रयास ही करते रहे हैं। परन्तु हमारा लक्ष्य तो अनाज के उत्पादन में ऐसी तीव्र गति से वृद्धि करना होना चाहिये जिससे पिछले दो सौ वर्षों का अन्नाभाव शीघ्र समाप्त हो और हम एकदा पुनः अन्नबाहुल्य से सम्पन्न हो जायें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमने मनोयोग पूर्वक कोई प्रयास अभी किया ही नहीं हैं। ऐसा अन्नबाहुल्य पाने के लिये तो हमें अपने समस्त साधनों और समस्त कर्म एवं चिन्तन को कुछ समय के लिये मात्र भूमि पर ही केन्द्रित करना होगा।

देश की भूमि धन-धान्य से सम्पन्न हो जायेगी और देश के लोगों की निरुद्ध वार्ता पुनः प्रवाहित हो उठेगी तो समृद्धि के जिन आधुनिक उपस्करों को पाने के लिये इस देश के हम साधनसम्पन्न जन इतने उद्विग्न हैं, वे उपस्कर भी शीघ्र ही यहाँ बहुलता से उपस्थित हो ही जायेंगे।

हमें भारत की अति उर्वर कृषिभूमि पर ध्यान केन्द्रित कर सम्पूर्ण मनोयोग से 'अन्नं बहु कुर्वीत' के सनातन भारतीय अनुशासन का निर्वाह करने के प्रयासों में जुटना होगा। परन्तु इन प्रयासों के फलीभूत होने और देश में अन्नबाहुल्य आने में जो समय लगेगा उस अवधि तक भी हम देश में व्याप्त भूख की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमारे चिरन्तन ऋषि अत्यन्त आग्रहपूर्वक हमें बता गये हैं कि भूख से त्रस्त मनुष्य और पशु राष्ट्र एवं समाज के समस्त पुण्य को क्षीण कर देते हैं। ऐसे राष्ट्र एवं समाज से देवता भी उठकर चले जाते हैं, और देवों से परित्यक्त कोई समाज अथवा राष्ट्र गहन अन्नाभाव को समाप्त कर अन्नबाहुल्य लाने के महान् प्रयास को कैसे सम्पन्न कर पायेगा? वस्तुतः सनातन भारतीय बोध तो यही है कि जिस समाज अथवा राष्ट्र में अन्यों की क्षुधा की उपेक्षा की जाती है, वह समाज अथवा राष्ट्र किसी अमूर्त स्तर पर ही पापमय नहीं होता, ऐसे राष्ट्र और समाज का प्रत्येक व्यक्ति एवं प्रत्येक गृहस्थ अपने आसपास व्याप्त क्षुधा के पाप में भागी होता है। अन्नाभाव का पाप राष्ट्र और समाज के सभी समर्थ जनों का ही ढोना पड़ता है। इस विषय में श्रुति का स्पष्ट सन्देश है कि जो भी संविभाग किये बिना उपभोग करता है, आसपास के अन्य क्षुधित प्राणियों की क्षुधा शान्त किये बिना स्वयं भोजन करता है, वह पाप का ही उपभोग करता है – केवलाघो भवति केवलादी।

अतः भारत भूमि पर पुनः अन्नबाहुल्य स्थापित करने के महान् प्रयास में लगने से भी पूर्व हमें संविभाग कर उपभोग करने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन को पुनः अङ्गीकार करना होगा। हमें देश के लोगों और पशुओं की क्षुधा का निवारण करने का राष्ट्रव्यापी सङ्कल्प लेना होगा। सम्प्रति देश में इतना अन्न उपलब्ध नहीं है कि सभी को पूर्णतया तृप्त किया जा सके। परन्तु सद्गृहस्थ और अनुशासित राष्ट्र तो भीषण अभाव के समय भी अपने यहाँ उपलब्ध किञ्चित् अन्न का समुचित संविभाग करने के उपरान्त ही उपभोग की ओर प्रवृत्त होते हैं। अपने पास उपलब्ध किञ्चित् अन्न से भी अन्य क्षुधित प्राणियों का भाग तो निकालना ही होता है।

हम भारतीय जन संविभाग के अनुशासन को सहजता से ही निभाते आये हैं। हमें अपने पास उपलब्ध किञ्चित् अन्न का समुचित संविभाग कर सभी की क्षुधा मिटाने का आचार किसी से सीखने की आवश्यकता नहीं है। हमारे चिरन्तन ऋषि हमें अन्न और अन्नदान की महिमा का विशद उपदेश दे गये हैं, और हमें अनादि काल से ही अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के अनुल्लङ्घनीय मानवीय अनुशासन का बोध रहा है। ऐसे सहज अनुशासननिष्ठ राष्ट्र एवं समाज

के लिये मात्र दो सौ वर्षों के अभाव, विभ्रम एवं स्मृतिभ्रंश को मिटा पाना कोई कठिन कार्य नहीं है। हम भारतीयता के सार को परिभाषित करने वाले संविभाग के अनुशासन का पुनः स्मरण करें। इस पुण्यभूमि पर विपुल अन्नदान की अजस्र धारा पुनः प्रवाहित हो। इस वृहद् देश का प्रत्येक ग्राम-समाज पुनः अपने भीतर एवं अपने आसपास व्याप्त क्षुधा के निवारण में रत हो जाये। अन्न एवं अन्नदान के ऐसे प्रवाह के साथ-साथ अन्नबाहुल्य का आविर्भाव भी हो ही जायेगा।

हम अपनी सहज भारतीयता का निर्वाह करने के लिये उपयुक्त बल एवं तेज से सम्पन्न हों और अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के अपने सनातन धर्म में पुनः प्रवृत्त हो भारतवर्ष को पुनः पुण्यभूमि के अपने सहज रूप में प्रतिष्ठित करें।

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलिन्यो न ओषधयो पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ।।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्ताम् ।
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम् ।
लोकास्समस्तास्सुखिनो भवन्तु ।।